स्थानीय स्वशासन और जन-भागीदारी

प्रो. जगत एस. मेहता

आज के परिप्रेक्ष्य में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, तकनीकि विकास, पारस्परिक विनिमय और विश्व के वैश्वीकरण की ओर बढ़ने से पारंपरिक सार्वभौमिकता और राजनीति आदि की संकल्पनाएं राष्ट्रीयता की धारणा की अपेक्षा गौण होती जा रही हैं। नब्बे के दशक ने शीत युद्ध के भयाक्रान्त राजनीति का अन्त किया। हंटिंगटन के अनुसार लोकतन्त्रात्मक "तीसरी शक्ति" का प्रादुर्भाव हुआ। भारत की कहानी इस संदर्भ में कभी सफलता के चरमोत्कर्ष को छूती हुई तो कभी अपूर्ण इरादों की मिली जुली गाथा है।

भारत ने स्वतन्त्रता से पूर्व ही दिसम्बर 1946 में साम्राज्यवादी/उपनिवेशवादी सत्ताओं को चुनौती देते हुए एक नए युग की ओर कदम रखा एवं एक प्रजातांत्रिक संविधान की रचना की जिसमें सभी वर्गों को सामाजिक न्याय और मौलिक अधिकार देने का प्रयोजन था। किन्तु 50 वर्ष में योजनाबद्ध प्रगति, निम्न एवं पिछड़े वर्गों के आरक्षण जैसे प्रावधानों एवं ऐसे कई कारगर समाधानों के बावजूद हम विकास संबंधी सर्वेक्षण के अनुसार विश्व के समस्त देशों में 135 वें स्थान पर हैं। आजादी के 50 वर्ष पश्चात् भी 35 करोड़ जनता गरीबी रेखा से नीची श्रेणी में है। 10 आम चुनावों के बाद आज आम नागरिक का राजनीतिज्ञों और वोट की राजनीति से मोहभंग हो चुका है। नौकरशाही जो देश एवं नागरिकों की संरक्षक मानी जाती है, आज

जनता के हितों के प्रति उदासीन एवं रूखी नजर आती है।

इन परिस्थितियों में भू.पू. प्रधानमंत्री स्वर्गीय श्री राजीव गांधी द्वारा पंचायती राज को पुर्नजीवित करने का साहसिक कदम सत्ता के विकेन्द्रीकरण और प्रभावकारी तीसरी श्रेणी स्थापित करने एवं निचले स्तर तक सत्ता विकेन्द्रीकरण में और भ्रष्ट राजनीतिज्ञों तथा उदासीन सरकारी अधिकारियों के प्रभुत्व से स्वतन्त्र करने में कारगर सिद्ध हुई है।

स्थानीय स्वशासन की अवधारणा राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की देन है जिसे स्वतंत्रोतर भारत की ग्राम सभाओं के रूप में पुर्नजीवित कर देश के स्वरूप में परिवर्तन करने के उद्देश्य से किया गया। गांधी जी के इन्हीं उद्देश्यों एवं आदर्शों की पूर्ति हेतु पंचायती राज की स्थापना सम्पूर्ण आत्मविश्वास के साथ की गई। संयोग से भारत वर्ष के प्रथम प्रधानमंत्री स्वर्गीय श्री पं. जवाहर लाल नेहरू ने इसे सर्वप्रथम हमारे राज्य राजस्थान में पचास के दशक में प्रारम्भ किया। किन्तु दुर्भाग्यवंश कई राज्यों में शनैः शनैः इसे निष्क्रिय कर दिया गया और इसका उपहास बन कर रह गया। साधारणतया चुनाव नहीं कराये जाते एवं इसे राज्य सरकार के निहित कार्य करने के कारण कई अंकुश थे एवं कोई भी कार्य का क्रियान्वयन नहीं हो पाता। ऐसी परिस्थिति में 73वें संविधान संशोधन एवं गम्भीर लोकतांत्रिक ढाँचे में भागीदारी बढ़े इसका ध्यान रखा गया।

73वें एवं 74वें संशोधनों द्वारा त्रिस्तरीय लोकतान्त्रिक ढाँचे की नींव रखी गयी। सबसे निचले स्तर पर वार्ड पंच का स्थान था जिसका चुनाव 2-3 हजार ग्रामीण नागरिक करेंगे एवं उसे ग्रामसभा में निर्णय लेने अथवा भाग लेने का अधिकार होगा। मध्यम स्तर पर 15 से 20 गांव के अपने चुने हुए सरपंच होंगे। हर स्तर पर महिलाओं के लिए 30 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान रखा गया है। इसमें सबसे महत्वपूर्ण प्रावधान यह है कि पंचायत समीतियों में प्रत्येक 5 वर्ष के बाद चुनाव अनिवार्य है।

यद्यपि इन संशोधनों को लागू किए हुए चार वर्ष बीत चुके हैं कई राज्यों में पंचायत के चुनाव कराए जा चुके हैं। दिसम्बर 1996 से इसके क्षेत्र का विस्तार पिछड़े आदिवासी बाहुल्य क्षेत्रों तक किया गया है। किन्तु प्रश्न यह उभरता है कि क्या इन सबके उपरान्त कोई मूलभूत परिवर्तन हुआ है या होने की संभावना है ? क्या पंचायती राज प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के क्षेत्रों में कारगर सिद्ध हुआ है ?

आठवीं पंचवर्षीय योजनाओं में समतावादी ढाँचे के आधार पर विकास की प्रक्रिया पर जोर दिया गया था किन्तु स्वयं स्वर्गीय राजीव गांधी के अनुसार आवंटित रुपये में से मात्र 15 पैसे ही गरीब जनता तक पहुँच पाता था। एक ओर कई आशावादी विचारक नए संशोधनों के मद्देनजर तीसरे पंचायती चुनावों के बाद ग्रामीण समाज में मूलभूत परिवर्तन की अपेक्षा रखते हैं। उन्हें विश्वास है कि इसके उपरान्त महिलाओं में शिक्षा का प्रसार होगा, उपेक्षित आदिवासियों को पुनः प्रतिष्ठित किया जा सकेगा। दूसरी ओर कुछ अध्ययन इस ओर इंगित करते हैं कि सामन्तवादी ताकतें ऐसी प्रक्रिया में आज भी बाधक हैं। विश्व बैंक की जिला निर्धनता उन्मूलन परियोजना (District Poverty Initiative Project: DPIP) के अनुसार राजसमन्द जिले के कई गाँवो में सावधानीपूर्वक किए गये सर्वे के निष्कर्ष बताते हैं कि पंचायती राज स्थापित होने के बाद भी परिस्थितियों में विशेष सुधार लक्षित नहीं होते। वित्तीय आवंटन में हेराफेरी और पूर्ण पारदर्शिता का अभाव है। प्रायः जब निर्वाचित सरपंच ग्रामीण जनता की उपेक्षा कर सत्ता का उपभोग करने में लीन हो जाते हैं तब ऐसी परिस्थितियों में मैं समझता हूं कि स्वयंसेवी संस्थाएं पूर्ण निष्ठा से ग्रामीणों का ऐसी संस्थाओं के प्रति विश्वास जागृत करने एवं उनकी ऐसे कार्यक्रमों में भागीदारी बढ़ाने में अहम् भूमिका निभा सकती हैं। बिना निचले स्तर (Grass Roots) में चेतना लाएं, पंचायती राज संस्था सुचारु रूप से क्रियाशील नहीं हो सकेगी। वैसे भी नौकरशाही और सामन्तवादी ताकतों की सत्ता के उपभोग की जो आदतें पड़ चुकी हैं वे यूं इतनी आसानी से नहीं छूटेंगी। यद्यपि संविधान ने इसे स्वीकृति दी है किन्तु सत्ता का नशा धीमे ही कम होगा। स्वयंसेवी संस्थाओं—का मिला-जुला इतिहास है परन्तु अधिकांश स्वयंसेवी संस्थाओं ने लोकतन्त्र को सुदृढ़ करने में सहायता दी है। मेरा अनुभव ऐसी दो संस्थाओं से रहा है। उनमें से एक विद्याभवन शिक्षण संस्था है। दूसरी, सेवा मंदिर, विद्याभवन की शुरुआत 1930 में एक

स्वतन्त्र विद्यालय के रूप में हुई। अकादमिक स्तर के साथ-साथ चरित्र निर्माण और संवेदनशील नागरिक निर्माण के उद्देश्य प्रमुख रहे। रियासती राज की स्थितियों को देखते हुए यह एक साहसिक कदम था। कतिपय सेवा भावी एवं उत्साही कार्यकर्ताओं के प्रयत्नों से विद्यार्थियों में आदर्श, देशभक्ति और जनतन्त्रीय व्यवस्था में आस्थाओं का बीजारोपण संभव हुआ। वर्तमान में यह संस्था एक विशाल वटवृक्ष का स्वरूप ग्रहण करते हुए शिक्षा के माध्यम से अच्छे नागरिकों का निर्माण करने हेतु प्रयत्नशील है।

यह हमारा विश्वास है कि जो समय के साथ और सुदृढ़ हुआ है, कि धरती के लोग निसंदेह ऐसे कार्यों के साथ जुड़ेंगे। यह संस्थान देश तथा विदेश के मध्य टापू है जो हजार-हजार मुश्किलों के उपरान्त भी प्रजातन्त्र को स्थानीय स्तर तक ले जाने में सहायक होगा। इसका दार्शनिक आधार यह है सामुदायिक सुदृढ़ता जनभागीदारी पर ही निर्भर करती है और स्थानीय वरीयता के मुद्दों को तय करने का दायित्व भी उनका है। शासन में बराबरी की भागीदारी होनी चाहिये। जो उपेक्षित है, दलित है उसकी हिस्सेदारी आवश्यक है। इस समरसता और जन-भागीदारी से ही बहुआयामी व्यवस्था कायम होगी और आम सहमति के साथ-साथ जवाबदेही बढ़ेगी।